GRT

GOLDEN RESEARCH THOUGHTS

ISSN: 2231-5063
IMPACT FACTOR : 4.6052 (UIF)
VOLUME - 10 | ISSUE - 12 | JUNE – 2021

सर्वेन्द्र विक्रम की कृति 'दुःख की बन्दिशें' का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
असि. प्रो. : हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, पचवस–बस्ती

शोध–सार :

यह शोध–पत्र सर्वेन्द्र विक्रम की कृति 'दुःख की बन्दिशें' का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है, जिसमें समकालीन हिन्दी कविता के संदर्भ में दुःख, संवेदना और मानवीय अस्तित्व की जटिलताओं का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस काव्य–संग्रह में कवि ने व्यक्तिगत पीड़ा को व्यापक सामाजिक यथार्थ से जोड़ते हुए उसे सामूहिक अनुभव का रूप प्रदान किया है। कविताओं में अभिव्यक्त दुःख केवल निजी भावुकता नहीं, बल्कि सामाजिक विषमताओं, मानवीय विघटन, अस्तित्वगत संकट और बदलते जीवन–मूल्यों की आलोचनात्मक अभिव्यक्ति है। कवि की भाषा सहज, प्रतीकात्मक और मार्मिक है, जो पाठक के भीतर गहरी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। साथ ही, इस कृति में आधुनिक जीवन की विडंबनाओं, अकेलेपन और मानवीय संबंधों के क्षरण को भी प्रभावशाली ढंग से उकेरा गया है। यह शोध–पत्र निष्कर्षतः प्रतिपादित करता है कि 'दुःख की बन्दिशें' समकालीन हिन्दी कविता में दुःख की नई संवेदना और वैचारिक गहराई को स्थापित करने वाली महत्वपूर्ण कृति है।

कुंजी शब्द : *दुःख–बोध, समकालीन हिन्दी कविता, संवेदना, सामाजिक यथार्थ, अस्तित्ववाद, काव्यभाषा, मानवीय संकट, विडंबना, अकेलापन, संबंधों का विघटन*

''नदी में बहता हुआ एक टुकड़ा चुन लो और अपनी निगाह से धारा में बहते हुए उस टुकड़े का पीछा करते रहो, उसपर अपनी नज़रें लगातार जमाए हुए, बिना धारा से आगे निकले। कविता इसी तरह से पढ़ी जानी चाहिए : एक पंक्ति की रफ्तार से।''

(स्वर्ग वाचाल नहीं है : एक नोटबुक : वेरा पावलोवा)

'एक दिन दिल्ली में समय' के बाद 'दुःख की बन्दिशें' सर्वेन्द्र विक्रम का दूसरा कविता–संग्रह है। इसे पढ़ने से भी पहले जिस एक बात पर सबसे पहले ध्यान चला गया, वह यह कि सर्वेन्द्र विक्रम कम लिखने वाले कवियों में से हैं (और ऐसा लिखकर मैं कतई यह साबित नही करने जा रहा कि ज़्यादा लिखने वाले कवि खराब होते हैं, हाँ! यहाँ इस दो शब्द पहले के अर्द्धविराम के पहले एक और कोष्ठक और स्माइली भी चाहें तो पढ़ सकते हैं)। दूसरी

महत्वपूर्ण बात यह है कि वे घोषित तौर पर किसी राजनीतिक मान्यता के भी कवि भी नहीं हैं। अब यह जो दूसरी बात है, इसके कारण सर्वेन्द्र विक्रम की कविताओं की समीक्षा का कोई 'रेडी रेकनर' नहीं हो सकता, जो एक तरह से कवि के लिए तो अच्छी बात पर है, पर आलोचक के लिए समस्या का भी मामला है। एक ऐसे कवि की कविताओं को, जिसे अपनी सुविधानुसार किसी राजनैतिक विचार के खांचे में नहीं डाला जा सकता, समझना और विलेषित करना चुनौती भरा काम हो जाता है।

सबसे पहले तो एक पाठक के रूप में इस बात पर मन खुद को मथता रहा कि 'दुःख की बन्दिशें' ही शीर्षक क्यों? फिर बन्दिश के शाब्दिक अर्थ से आगे उसकी सांगीतिक व्याख्या के बारे में सोचने पर याद आया कि बन्दिशें तो रागों को बचाने के लिए रची गयी थीं। इस संग्रह की रचनायें भी व्यक्तिगत और सामाजिक त्रासदियों से उपजे दुःख की स्मृतियों को बचाने की बन्दिशें हैं। ये कवितायें अपने आस–पास की धूमधाम, चमक–दमक और फर्जी उल्लास के बीच उस 'टीस' को जगाये रखने का प्रयास है, जिससे आज का मनुष्य (विशेषक मध्यवर्ग) दूर चला जाना चाहता है, ऐसा नहीं कि उसकी कोई नस दुखती नहीं, पर उस पीड़ा पर सत्ता के नये–नये मदारियों और बाजीगरों के शर्तिया इलाज वाले मरहम लगाकर वह पीड़ा से मुक्ति का फर्जी अहसास करता रहता है और मस्त रहता है। ये कवितायें हमारे जीवन में दुःख के संगीत की प्रतिष्ठा करती हैं, ये किसी 'शॉट' की तरह आहत नहीं करतीं, बल्कि पढ़े जाने के बाद रोजमर्रा के जीवन में किसी मद्विम पार्श्वसंगीत की तरह लगातार बजती हुई अपने बने रहने को अनुभव कराती हैं।

इस संग्रह की शुरुआती कविताएँ माँ के बारे में हैं। हिन्दी कविता का संसार माँ पर लिखी कविताओं से भरा है, इनमें से काफी कवितायें कोरी भावुकता या फिर असह्य नाटकीयता से भरी हुई भी हैं। इस संग्रह की कविताएँ इस मामले में अगल हैं कि 'सूप' पर विश्वास रखती हुई 'दलिद्दर खेदने वाली माँ के रूपक को कवि स्वतंत्रता के बाद सपनों के धराशायी होते जाने के यथार्थ से सम्बद्ध करता है। इतना ही नहीं 'पल्ले नहीं पड़ा मुक्ति अभियान' जैसे पदबन्धों के माध्यम से कविता बड़े विमर्शों की सपाटबयानी से अस्वीकार भी प्रस्तुत करती है। पहली कविता 'इस विश्वास पर' की अत्यन्त महत्वपूर्ण पंक्तियाँ हैं :

'फिर किसके पीछे पड़ी हुई है माँ अपने औजार लेकर
सूप जैसा प्राचीन विश्वास लेकर'

अब यहाँ औजार के रूप में सूप और उसपर एक स्त्री के दृढ़ विश्वास का बिम्ब एक अभिनव संवेदना का माध्यम बनकर उपस्थित होता है। माँ पर ही लिखी दूसरी कविता 'फोटो एलबम' में कवि मर्यादाओं, अपेक्षाओं और उत्तरदायित्वों के बीच सीमित एक स्त्री के जीवन के बन्द झरोखों से झांकते हुए अचानक उस अनकहे और गुप्त रहस्य तक पहुँच जाता है, जिसे तथाकथित भारतीय परम्परा में वर्ज्य माना गया है। और, यह वर्जना केवल परम्परा में रही हो, ऐसा भी नहीं है, साहित्य में भी इन विषयों से कुछ परहेज सा रखा गया है। ऐसी कविताओं के लिए सिर्फ पवन करण याद आते हैं, जो अपनी कविता 'प्यार में डूबी हुई माँ' के माध्यम से इसी कारण चर्चित हुए थे। सर्वेन्द्र विक्रम की यह कविता 'स्त्रियों में दिखने लायक होने का अभिमान नहीं है' जैसी काव्यपंक्तियों से बनी है, जो उन पुराने दिनों की स्मृतियों का बयान करती है, जहाँ स्त्रियों के सार्वजनिक जीवन में न होने की बात तो है, पर उस दुष्कर समय में भी एक छिपाये हुए फोटो के माध्यम से किसी गोपन प्रेम सम्बन्ध की सम्भावना की कल्पना का साहस भी है :

अपनी इस दुनिया में माँ ने कभी किसी को शामिल नहीं किया
उसे कहाँ किस तरह मिले होंगे ये फोटो,
कैसे बचाये रही एक एलबम, स्मृतियाँ और प्रेम
और इस सबको बचाये रखने का साहस

संग्रह की एक अन्य कविता में दुःख के निवारण का उपाय ढूँढते 'धुनिये' भी हैं, यह कविता एक छोटी और सहज शिल्प की कविता होकर भी गहरे वैचारिक द्वन्द्व का परिचय देती है। इस छोटी सी कविता में बुद्ध भी हैं, उनके उपदेश भी, किसानों की आत्महत्याएँ भी और कबीर भी। कविता की अन्तिम पंक्ति अत्यन्त मारक प्रभाव रखती है, जिसे फ्लैप पर उद्धरित भी किया गया है :

धुनिये दिल्ली जाते हैं या नहीं
पता नहीं
जहाँ बहुत कुछ है धुनने के लिए
रुई के अलावा भी

दिल्ली की तथाकथित सत्ता और शक्ति, फिर चाहे वह साहित्य की हो या राजनीति की, के अस्वीकार का यह बड़ा गहरा और सान्द्र बिम्ब है। इस कविता संग्रह का शीर्षक 'दुःख की बन्दिशें' इसमें संकलित एक विता 'साजिदा की प्रेमकथा' से लिया गया है। एक निर्दोष और साधारण स्त्री जो प्रेम में छली गयी है, उसकी पीड़ा का गहराता और गाढ़ा पड़ता हुआ, द्रवीभूत होता हुआ, किसी रंग से ध्वनि में बदलता हुआ, सन्नाटे में सिसकी की तरह बजता हुआ एक बिम्ब है, जो पढ़ने के काफी बाद तक स्मृति में जमा रह जाता है :

आलाप की तरह उठती गिरती रहती है रुलाई
जिसने देखा ता उसे आँखें खोलकर पहली बार मुस्कराते
जैसे सम पर ठहरी रहती है देर तक
खत्म होने में नहीं आती दुख की बन्दिशें

यद्यपि पहले ही 'बन्दिशों' के सांगीतिक पक्ष की बात हम कर चुके हैं, मगर फिर भी एक बार पुनः यहाँ कहना ही होगा कि यह जो दुःख का सम पर टिके रहना और खत्म होने को न आना है, यह कविता में बहुत अनछुआ बिम्ब है।

संग्रह में कई कविताएँ कुछ चरित्रों पर हैं, पढ़ने से जितना पता लगता है, उससे यह बात साफ हो जाती है, कि ये सभी चरित्र काल्पनिक न होकर वास्तविक हैं, और प्रायः दुःखी और पीड़ित भी। अपने आस–पास के जीवन में फैले इस नैराश्य, पीड़ा और संत्रास को इन विविध चरित्रों के माध्यम से कवि ने बखूबी उजागर किया है। इस तरह की प्रमुख कविताओं में पहली है 'वसीयत' कविता, जिसमें महबूब मियाँ नाम का चरित्र है, जिसके बारे में कवि कहता है :

उनका कोई एजेंडा नहीं था
शायद इसीलिए अपना कोई इतिहास नहीं था
कोई ऐसी हरकत नहीं की जिससे पुरखों के नाम पर हर्फ़ आये
फिर भी गर्दन पर जाने कौन बोझ है
दीवारों पर डोलती परछाईयाँ ज्यादतियाँ, खो देने का इमकान
जिन्दा जलाए जाने, मारे जाने का धारावाही अभियान
भयानक चुप्पी के खतरनाक सन्देश
हर वक्त किसी अनहोनी का डर

यह अजीब इत्तेफाक है कि जब मैं आज बाईस मार्च को इस कविता पर लिख रहा हूँ तो उत्तर प्रदेश में सत्ताईस साल बाद मेरठ के हाशिमपुरा मामले का फैसला आया है और योजनाबद्ध तरीके से अल्पसंख्यक समुदाय के बयालीस लोगों की हत्या के आरोपी पीएसी के लोग बरी कर दिये गये हैं। साम्प्रदायिकता के विरोध में हिन्दी में कविताओं का एक लम्बा सिलसिला चलता रहा है, और इन ताज़ा मामलों को देखकर लगता है कि इन कविताओं और इस विरोध की ज़रूरत शायद इस देश में कभी खत्म ही नहीं होगी। आज के अख़बार में हाशिमपुरा के मारे हुए लोगों के परिवारों के फोटोग्राफ्स छपे हैं, जिनमें उनकी आँखों में छिपा हुआ अफसोस और भय एकसाथ दिखाई दे रहे हैं। सर्वेन्द्र विक्रम की यह कविता भी, जिसमें वे 'हर वक्त किसी अनहोनी का डर' बताते हैं, भारतीय समाज में अल्पसंख्यकों की वास्तविक स्थिति का दस्तावेज है; जो यह बताता है कि भारतीय मुसलमान किस तरह हर समय एक असुरक्षा के अंदेशे में रहता है। जिस तरह की शक्तियाँ आज इस बदले हुए समय में शासन और सत्ता पर काबिज हैं, उनसे इस असुरक्षा को और अधिक बढ़ावा ही मिल रहा है। यह कविता महबूब मियाँ की एक अद्भुत 'वसीयत' पर आकर खत्म होती है कि 'और हड्डियों से फासफोरस निकालकर बनायी जाएँ माचिस की तीलियाँ/जब अंधेरा पार करने लगे हदें/गुनाह है चुप बैठना'। यह एक नयी बात है, एक बूढ़ा जो अपने जीवन से निराश है, अपने होने और न होने के मतलब भी तलाश नहीं सकता, वह अपनी हड्डियों के फासफोरस से उजाले की तजबीज करता है, निश्चित रूप से यह कविता इन नये खतरों की समझ और उनके प्रतिरोध की ओर हमें एक नये मुहावरे से आबद्ध करती है।

दुखरन एक दूसरा चरित्र है, जिसपर कवि ने कुछेक कवितायें लिखी हैं। अचानक ही इस कविता को पढ़ते हुए जनकवि नागार्जुन के 'दुखरन मास्टर' याद आ जाते हैं। अन्तर यह है कि सर्वेन्द्र विक्रम का स्वर नागार्जुन की तरह लाउड न होने के कारण वे अन्डरटोन्स में बात करते हैं। दुखरन के माध्यम से गाँव से लगातार शहर की ओर विस्थापित हो रहे लोगों की पीड़ा पर बात करते हुए वे सवाल करते हैं :

कुछ कहोगे, नई व्याख्या करोगे या जाओगे
जड़ों की ओर गहरे और गहरे, सन्तों की तरह
देखोगे इसका अन्त कहाँ है?
लिखोगे आग की पृष्ठभूमि में
पानी के बारे में प्रेम की कविताएँ?

वहाँ (नागार्जुन के यहाँ) अगर दुखरन मास्टर 'आदम के सांचे' गढ़ रहा है, तो इतने साल बाद यह नया दुखरन शायद खुद अपने सांचों की तलाश में है, उसके लिए अन्नजल भी सहज नहीं रह गया है और एक अप्रतीक्षित भय दुःस्वप्न की तरह लगातार उसके और उसके परिवार की आँखों में मौजूद है, जहाँ रोटी भी एक सपना है। एक दूसरी कविता 'पानी' में भी दुखरन मौजूद हैं, जहाँ किसानों की उम्मीद के खिलाफ़ बारिश नहीं हुई है। यद्यपि कहीं बाढ़ है, कहीं लॉन पर हरी घास की सिंचाई, कहीं रेनडांस, फिर भी दुखरन के आस–पास कहीं पानी नहीं और लोग चिड़िया द्वारा राजा के पानी को जूठा कर दिये जाने की कथाओं में डूबे खुद को समझा रहे हैं। इस कविता के दो अंश इतने आकर्षक और व्यापक अर्थ को समेटने वाले हैं, कि उनमें समकालीन कई परिस्थितियों और यथार्थ के विद्रूप की निर्मिति की पूरी अभिव्यक्ति बेहद सहजता से सम्भव होती दीखती है :

दुखरन भी चले थे लेकर थोड़ा सा सत्तू नमक
सरल सी उम्मीद और पानी पर भरोसा
कहीं न कहीं तो होगा ही मिल जायेगा जरूरत भर

.....

गते आषाढ़ जाते सावन जा रहे थे दुखरन घरबार छोड़

सपने में भी न सोचा था कि एक दिन साथ छोड़ देगा पानी
कि एक दिन पानी भी बिकेगा
लेकिन बिक रहा था और कोई मोलभाव नहीं।

इसी तरह एक रोचक कविता है 'दुखरन की दाल', जिसमें गँवई आदमी के खान–पान के गैरपरम्परागत प्रयोगों को राजनैतिक गठबन्ध के प्रयोगों के बरक्स देखते हुए कवि इन दोनों के घातक परिणामों की चर्चा करता है। यहीं घर से शहर भाग आए दुखरन के भीतर घटते हुए लोहे की बात कवि करता है। दुनिया ही ग्लोबल नहीं हुई है, दुखरन की लाचारी भी यहाँ ग्लोबल हो गयी है :

बढ़ती जाती है एक अजब सी लाचारी
दालों को दलों के भरोसे छोड़कर कभी कभी सोचते हैं दुखरन
अकेली जान के लिए कौन करे रोज रोज इतना टिटिम्मा
कोक–पेप्सी में सानकर खा लें दो मुट्ठी भात और पड़े रहें
मौके की नज़ाकत भांपकर कुछ लोग कोरस में गा रहे हैं
सब कुछ चमकदार है कितना सुहाना।

संग्रह की एक कविता है 'गाड़ीवान', यह आसान शैली में लिखी गयी गम्भीर राजनैतिक कविता है। यह कविता यह सोचने पर लगतार विवश करती है कि एक बार हम जिनके हाथों में सत्ता सौंप देते हैं, फिर उनके कार्यकलापों पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं रह जाता। विकास और प्रगति के झूठे और अधूरे सपनों के छलावे में हम जिस 'गाड़ी' के सवार बन जाते हैं, प्रायः डग्गामार निकलती है, जिसका ढांचा भी जर्जर है, जो बहुत देर से नयी–नयी सवारियों के इन्तज़ार में है, जिसका ड्राईवर बार–बार अधीर होते यात्रियों को झूठी आस देने के लिये इन्जन को रह–रह कर घुरघुरा देता है, जैसे अब चलने को ही है, और इस सबके बीच लगातार अपना सामन बेचने वाले गाड़ी पर चढ़े आ रहे हैं। यह दशा पूरी तरह से देश की समकालीन राजनीति का ब्यौरा देती है, जहाँ सपने और आकांक्षाएँ तो हैं, पर उनपर अमल नहीं है, दरअसल नीयत भी नहीं :

आप कहते हैं तो मानना पड़ेगा कि हम आगे बढ़ रहे हैं
लेकिन कब पहुँचेंगे पता नहीं पहुँचेगे भी कि नहीं
डर है कहीं कुछ हो गया तो हम पर ही फूटेगा ठीकरा
लोग कहेंगे, सँभाल कर रखने की तमीज़ नहीं थी
ड्राईवर की सीट पर आपको बिठाया गलती हुई
भरोसा करके ठगे तो नहीं गए भाई

इसी समय इसी भावभूमि की एक दूसरी कविता 'स्पेशल इफेक्ट' की भी चर्चा कर लेना उचित होगा। यहाँ एक अभिनेता के माध्यम से यथार्थ और अभिनय के दृश्यों के फर्क की बात धीरे–धीरे दोनों के घुलते जाने की बात तक पहुँचती है। डिजिटल रैलियों और लेजर शो के माध्यम से हम जिस तरह की राजनैतिक सरगर्मियों के बीच रह रहे हैं, वहाँ अब यह सबकुछ एक जादू की तरह लगने लगा है, और यह सब करने वाला किसी बाजीगर की तरह। तय बात है, कि कुछ भी अब सच नहीं है, क्या असली और क्या नकली इसकी पहचान अब या तो नामुमकिन है या बहुत ज़्यादा मुश्किल। फिर भी, कवि को उम्मीद है कि बाजीगर कितना भी कलाबाज क्यों न हो, पर जनता देर से ही सही, असली–नकली की पहचान करने में सफल ज़रूर होगी :

यह हुनर और ऐसी नायाब सफाई
मालूम तो है सबको जीवन और पर्दे का भेद
साबित हो जाएगा सब का सब नकली है?

'कैमरे के सामने' कविता में कवि ने एक निम्नमध्यमवर्गीय परिवार में गायब होती हंसी को केन्द्र में रखा है। किस तरह उदारवाद के बाद के दौर में बढ़ते हुए बाजार ने बेहद आम सी चीज़ों की उपलब्धता का संकट उत्पन्न कर दिया है, जहाँ पहले आप अपने पड़ोसियों से केवल एक कटोरा चीनी या दूध हीं नहीं, वक्त पड़ने पर थोड़ी 'कलकल' हंसी भी मांग सकते थे, वहीं इस वक्त में कुछ भी मांगना या उसकी उम्मीद रखना खतरे से खाली नहीं है। फोटो खींचने से पहले हर फोटोग्राफर का 'स्माइल प्लीज' कहना और लोगों का मुस्कराते हुए फोटो खिंचा लेना एक आम सी बात है, पर इस मुश्किल समय में हंसी किसी अनजान अंधेरे में खो गयी है, इतना कि पकड़ में नहीं आ रही, कवि संकेत करता है:

आखिर बात क्या है? समय से है मानसून
मंडियो में आवक अच्छी रहने की उम्मीद
ब्रांड वाली चीज़ें भी मिल रहीं इफरात
अच्छा नहीं महसूस कर पा रहे या भूल गये हो हंसने की कला
क्या सममुच कोई दुख है?

'कायान्तरण' कविता की चर्चा मुझे इसके सर्वथा नये विषय के कारण बेहद आवश्यक लगती है। आज जब लोक–कलाओं के वैभव को भी बाजार के प्रायोजन ने लील लिया है, और बाजार के लिए यह सबकुछ एक तमाशे के अतिरिक्त अब कुछ भी हैसियत नहीं रखता वहाँ 'एमेच्योर' कलाकारों पर केन्द्रित यह कविता महत्वपूर्ण बात सामने रखती है। 'श्रम' और 'कला' के इस समन्वय की गुंजाइश भारत में हमेशा से मौजूद रही है, इसीलिए हमारे यहाँ रोपनी, पिसाई–कटाई के गीत लोकमानस में मौजूद हैं। इस कविता में अपने काम से 'सुस्ताने' की प्रक्रिया में किसानों द्वारा रचे संगीत को बरतते हुए इन कलाकारों के एक अजब कायान्तरण की बात कवि कहता है कि :

इन सुरों की पगडंडी टेढ़ी–मेढ़ी है
इसे उन जैसों ने खुद बनाया है समय की पीठ पर
उनका गाना थोड़ा ऊबड़–खाबड़ सा है उनके हालात की तरह
सुनते हुए डर लगा रहता कि कहीं वे तार पर सुर से गिर न जाएँ
हालाँकि वे जैसे तैसे सन्तुलन बनाए रख पाते हैं
जैसे जीवन में

इसी तरह, इस संग्रह की बहुत सारी कविताएँ हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जैसे 'शताब्दी का सबसे बड़ा खेल', 'गाँठ, 'स्रोतों की परवाह करने वालों का समय', 'स्वागत नहीं', 'बुरे विचारों से बचने का उपाय', 'नुमाइंदे', 'लिखता हूँ' इत्यादि। चरित्रों पर लिखी कविताओं की शृंखला में 'बाबूलाल प्रेसवाले', 'धारी पेंटर', 'धारी की स्त्रियाँ' भी ऐसी कविताएँ हैं, जिनके उल्लेख के बिना वह हिस्सा पूरा नहीं होगा। सम्मिलित रूप से, ये सभी कविताएँ हमारे जीवन के छोटे–छोटे प्रसंगों और विवरणों का इस्तेमाल करती हुई बेहद बड़े, आवश्यक और सार्वभौम विषयों पर तार्किक मगर संवेदनापूर्ण दृष्टि से हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। यह भी बताना आवश्यक है कि आज जब हिन्दी कविता पर पिछले लगभग एक दशक से शिल्प के नवाचार को लेकर लगातार दबाव बन रहा है (और जिसके प्रभाव में कई तरह के अपठनीय कविता प्रारूप भी कवियों ने खोज निकाले हैं), इस संग्रह की कविताएँ

किसी प्रयोग का परिणाम नहीं दिखाई देतीं, इतना ही नहीं भाषा को लेकर भी कवि ने अपने मिजाज़ में कोई बदलाव कर लिया हो, ऐसा बिल्कुल नहीं दिखता। फिर भी, ये कविताएँ पूरी तरह सर्वेन्द्र विक्रम की कविताओं के रूप में अलग से पहचानी जा सकती हैं। अगर 'अवधानित' वैचारिकता ही कविताओं में प्रतिबद्धता की शर्त हो, तो ये कविताएँ एक प्रतिबद्ध कवि की कविताएँ भी नहीं कही जायेंगी, लेकिन प्रतिबद्ध वैचारिकता के सारे सरोकार इन कविताओं में अधिक मजबूती और तार्किकता के साथ खड़े नज़र आते हैं। एक प्रौढ़ कवि के दूसरे संग्रह से विचार, भाव और संवेदना, इन तीनों स्तरों पर जिस परिपक्वता की आशा की जाती है, वह समेकित रूप से इस संग्रह की कविताओं में परिलक्षित होती है। यह संग्रह इस कठिन समय की बहुविध समस्याओं के प्रति वैचारिकी की लय का अनूठा दस्तावेज़ होने के कारण विशिष्ट और पठनीय है। कवि सर्वेन्द्र विक्रम की काव्ययात्रा में इस संग्रह 'दुख की बन्दिशें' का प्रकाशन निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण पड़ाव है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. सर्वेन्द्र विक्रम. (2014). दुःख की बन्दिशें. राजकमल प्रकाशन।
2. नामवर सिंह. (2002). इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन।
3. रामविलास शर्मा. (1990). भारतीय साहित्य की भूमिका. राजकमल प्रकाशन।
4. मैनेजर पांडेय. (2006). साहित्य और इतिहास दृष्टि. वाणी प्रकाशन।
5. विश्वनाथ त्रिपाठी. (2010). लोक और साहित्य. राजकमल प्रकाशन।
6. गजानन माधव मुक्तिबोध. (1980). नयी कविता का आत्मसंघर्ष. राजकमल प्रकाशन।
7. अशोक वाजपेयी. (2014). कला का जोखिम. राजकमल प्रकाशन।
8. राजेश जोशी. (2016). कविता का लोकतंत्र. राजकमल प्रकाशन।
9. कंवल भारती. (2010). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. वाणी प्रकाशन।
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि. (2001). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. राधाकृष्ण प्रकाशन।
11. मृणाल पांडे. (2015). स्त्रीरू देह की राजनीति से देश की राजनीति तक. राजकमल प्रकाशन।
12. अनामिका. (2013). स्त्रीत्व का मानचित्र. वाणी प्रकाशन।
13. ईगलटन, टेरी. (2008). लिटरेरी थ्योरीरू एन इंट्रोडक्शन. ब्लैकवेल।
14. जेमसन, फ्रेडरिक. (1981). द पॉलिटिकल अनकॉन्शस. कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस।
15. अल्थुसर, लुई. (1971). लेनिन एंड फिलॉसफी एंड अदर एसेज. मंथली रिव्यू प्रेस।
16. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू. (1978). ओरिएंटलिज्म. पेंगुइन बुक्स।